पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी हीरक जयन्ति पर प्रकाशित
अभिनंदन ग्रंथ से साभार...
13 मई 1964 बैशाख सुद बीज स. 2021

सर्वोदयी-युगनेता

- **बाबू 'युगल' जैन,** (एम.ए., साहित्यरत्न), कोटा

पूज्य श्री कानजीस्वामी जैन-समाज की उन विभूतियों में से है, जिनमें पवित्रता तथा पुण्य के संगम की बहुलता रही है। शताब्दियों के उपरान्त मानों एक-निधि युग को मिली है, जिसे पाकर युग के सोते- भाग्य जाग उठे हैं। उनके जीवन के अन्तरंग तथा बहिरंग—दोनों पक्ष समानरूप से समृद्ध हैं। अन्तरंग जहाँ उनका अविरल-प्रविचारित चेतना-विलास है, वहाँ बहिरंग-पक्ष में भी उनका द्रव्य और भाव-पुण्य निराला है। भाव-पुण्य की सर्वोच्च-भूमिका तत्त्व-चिन्तन तथा तत्त्व-विचार है। यह तो मानो उनकी दिनचर्या का अविभाज्य-अंग है। निरन्तर अभीक्ष्ण-ज्ञानोपयोग की पावन-मंदाकिनी बहती है। आगम के गंभीर-रहस्य अनेकान्तरूपी-मथानी से मथकर ऐसे निकलते हैं, मानो गोताखोर ने सागर की गहराईयों में से मोती

निकाले हों। उनका तत्त्व मात्र आगम के पन्नों पर लिखा नहीं रहा, अनुभूति की गहराई में उतर गया है। जीवन में उस तत्त्व-संपादन के पीछे एक स्पर्धाजनक-कहानी है।

वे ऐसे वातावरण में जन्मे, जहाँ तत्त्वोपलाब्धि तो दूर, तत्त्व सुनने तक को नहीं मिला था। यह भी एक उदय की विचित्रता रही। वहाँ रहे भी, पर मन नहीं माना। इतरजन जहाँ उदयजन्य-संस्कारों को छाती से लगाकर तदाकार हो जातें हैं, वहाँ उन्होंने उन पर ज्ञान-घन का प्रहार किया और एकाकी तत्त्व की खोज में निकल पड़े। कोई सहयोगी नहीं, मार्गदर्शक भी नहीं; किन्तु पुरुषार्थ उग्र था, अतः स्वयं-प्रबुद्ध हो तत्त्व को पा लिया। उन्होंने संपूर्ण-लोक से दृष्टि समेटकर तथा अन्तर्विकल्पों से विराम लेकर क्षणभर के लिए भीतर देखा, तो द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म के आवरण के भीतर शुद्ध-तत्त्व श्रीफल के श्वेत गोले-सा स्वच्छ, अपने अकृत्रिम-सौन्दर्य-समन्वित किसी मंदिर के उपास्य देवता-सा अत्यन्त-रमणीय, स्फटिक-सा निर्विकार, सागर-सा गंभीर और मेरु-सा निष्कंप अपने पूर्ण-वैभव के साथ विराजमान था। अपरिमित भौतिक-ऐश्वर्यों के स्वामी एक चक्रवर्ती की अपेक्षा उस तत्त्व को पाकर वे अधिक सुखी हैं। उदाहरण है उनका जीवन उन सबके लिए, तत्त्व जिनकी बपौती रही, सत्य-धर्म जिन्हें उत्तराधिकार में मिला, किन्तु पानी में भी मीन प्यासा ही रह गया।

बहिरंग-पक्ष में उनका द्रव्य-पुण्य भी अद्वितीय है। सत्य के आँगन में एकाकी उनका पदार्पण हुआ, किन्तु आज उनके साथ लाखों हैं। ऐसे विशिष्ट-पुरुषों का योग किंचित् और कदाचित् ही मिलता है। उनके कारण 'स्वर्णपुरी' आज स्वावलम्बन का प्रतीक बन गई है। जीवन के किसी क्षेत्र में सोनगढ़ आज परमुखापेक्षी नहीं है और न कभी रहा है। विद्वान्, वकील, अभियन्ता, धन-कुबेर सभी उस महापुरुष के आश्रम में आकर धन्य हुए हैं। बाह्य-जीवन के विकास के दो मूल-तत्त्व, प्रतिभा और अर्थ, दोनों का अनुपम-योग सोनगढ़ को मिला है। अत्यंत-निस्पृह तथा निरीह—ये दोनों अपनी सम्पूर्ण-शक्ति से तत्त्व के सम्पादन तथा प्रसार में योगदान कर रहे

हैं। अतुल आध्यात्मिक-साहित्य वहाँ से प्रकाशित हुआ है और जो कुछ प्रकाशित हुआ है, वह अनेकान्त की कसौटी पर पहले कसा गया है।

उनका कान्तिमान तेजस्वी-वदन इस भौतिक-युग के विषय-विमुग्ध जीवों को ब्रह्मचर्य का पुनीत- आमंत्रण दे रहा है। दिनचर्या इतनी व्यवस्थित कि समय दर्शक भी उससे हार खाता है। उन्होंने भरपूर- यौवन में भरा-पूरा घर छोड़ा, उस तत्त्व को पाने के लिए, जिसके अभाव में लोक सब कुछ पाकर भी दरिद्र बना रहता है। उसके पीछे उन्होंने उपसर्ग झेले, आपत्तियाँ सही, देह को भी नहीं गिना; क्योंकि अनमोल था वह तत्त्व; उसके बिना मानों जीवन नि:सार था। अपने सम्पूर्ण-श्रम से उसे पाकर ही रहे। उनमें तत्त्व प्रतिपादन की अद्‌भुत-क्षमता है। उनकी वाणी मुक्ति के मूलतत्त्व वस्तु-स्वातन्त्रय की निर्भय-निशंक घोषणा करती है। लोग उनके द्वारा प्रतिपादित-तत्त्व का विरोध करते हैं, किन्तु विरोध का 'अहम्' लेकर अनेक भाई उनके निकट आते ही झुक जाते हैं।

इस धरा पर उस महापुरुष का अवतरण एक अद्‌भुत-क्रान्ति लाया है। वे युगपुरुष हैं। हम उन्हें युगपुरुष क्यों न कहें ? वर्तमान-युग को उनसे एक-नई चेतना मिली है। मुक्ति का पथ प्रशस्त हुआ है। अनादि का सुप्त-पुरुषार्थ उनकी कल्याणी-वाणी का कोमल-स्पर्श पाकर आज सचेत हुआ है। हम आज अपने को पहिचानने के योग्य हुए हैं। लोग तत्त्व का केवल नाम ही जानते थे और जानते थे उसका बाह्य-लक्षण। तथा इतने मात्र से अपने का 'तत्त्वज्ञ' कहते थे। तत्त्व का कहीं पता नहीं था। पुण्य ने धर्म का चोला पहन रखा था और वह धर्म के सिंहासन पर बैठकर संवर-निर्जरा की सृष्टि करने का साहस कर रहा था। चारित्र बाह्यचार तथा बाह्य-वेश की संकुचित-सीमा में प्रतिबद्ध हो गया था। निमित्त-उपादान पर छाया हुआ था कण-कण में पराधीनता की ध्वनि थी और तत्त्व श्वासें गिन रहा था। सच्चे देव, शास्त्र, गुरु का एक रागात्मक-विकल्प ही 'सम्यग्दर्शन' के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया गया था। कौन जानता था कि सात-तत्त्वों में शुद्ध-निरपेक्ष, निर्भेद और निर्विशेष-तत्त्व को जीव-तत्त्व कहते हैं और उसी की

निर्विकल्प-अनुभूति में मंगलमय-सम्यग्दर्शन का अवतरण होता है। अनेकान्त तो मानों परस्पर-विरुद्ध धार्मिक मान्यताओं का समन्वय करने के लिए एक बौद्धिक-प्राणायाम मात्र रह गया था। वह मात्र वाणी का क्रीड़ास्थल था। जीवन के लिए उसकी कोई उपयोगिता नहीं रह गई थी। सत्य के प्रतिपक्षियों को रिझाने का एक-साधन बनाकर उसकी सम्पूर्ण-प्रतिष्ठा की ही हत्या कर दी गयी थी।

अनेकान्त-दर्शन वास्तव में वस्तु के सही-अवलोकन की एक सही-पद्धति है, सही ज्ञान है। प्रत्येक वस्तु अपने स्वरूप में इसप्रकार प्रतिष्ठित है कि एक से दूसरे में कुछ आता-जाता ही नहीं है। अपना उसमें सब कुछ है और पर का कुछ भी नहीं है। यह स्व से अस्ति और पर से नास्ति ही उसकी अनेक-धर्मात्मकता अर्थात् अनेकान्त है। ऐसे अनैकान्तिक-वस्तुस्वभाव को जाननेवाला ज्ञान भी प्रमाण अर्थात् अनेकान्त है। वस्तु को अपने भूत, भविष्य, वर्तमान सम्पूर्ण-जीवन के क्रिया-कलापों का एकाधिकार प्राप्त है। किसी भी रूप में वस्तु परमुखापेक्षी नहीं है। वह सतत अपने क्रियाकलापों में तन्मय है। उसे दूसरे का कुछ करना भी नहीं है, क्योंकि दूसरे का कुछ भी करने की चेष्टा में दूसरे का कुछ होता ही नहीं है। वस्तु का ऐसा स्वरूप ही उसका सौन्दर्य है। अगर एक-दूसरे का कुछ करने-धरने की बात सैद्धान्तिक रूप में स्वीकार कर ली जाये, तो कर्तृत्व की होड़ में विश्व-व्यवस्था ही समाप्त हो जाये। किन्तु विश्व- व्यवस्था तो अनादि से जीवित है और अनन्तकाल तक जीवित रहेगी, क्योंकि वह स्वयं अनैकान्तिक है। ऐकान्तिक-व्यवस्था में अनाचार बढ़ता है, असंतोष और अशान्ति बढ़ती है। देह मेरी है, वाणी मेरी है, जगत् मेरा है, चेतना की यह दृष्टि सभी 'अनाचारों की मूल' है। ऐकान्तिक-दृष्टि जो अपनी नहीं है उसके लिए, सवेग आगे बढ़ती है, दूसरे की सीमा के अतिक्रमण का उपक्रम करती है, किन्तु कुछ हाथ नहीं आता; क्योंकि प्रत्येक वस्तु अपने में इतनी परिपूर्ण, साथ ही सुरक्षित है कि उसमें से कुछ नहीं निकाला जा सकता। एक-वस्तु दूसरी-वस्तु में जा सके, तो ही कुछ आदान-प्रदान

संभव है। किन्तु यह तो कभी होता ही नहीं है। वस्तु में न तो एकान्त ही है और न परकर्तृत्व ही है। अज्ञानी की दृष्टि में एकान्त है और पर कर्तृत्व है जैसे एक प्रमत्त-हाथी किसी वज्र से मस्तिष्क मारकर लहुलुहान होकर पीछे भागता है; उसी-प्रकार अज्ञानी वस्तु के अविचल-उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से टकरा-टकराकर निरन्तर आकुल-व्याकुल होता रहता है। ज्ञानी वस्तु के इस स्वरूप को पहिचानता है अत: वह स्व में ही स्व का निश्चय कर अपने में नास्ति-स्वरूप-पदार्थों से अपनी वृत्तियाँ समेटता जाता है। फलस्वरूप राग के बन्धन टूटते जाते हैं। यही मुक्ति है और यही स्वाधीनत्व अनेकान्त का मधुर-फल है।

दो विरुद्ध-मान्यताओं को एक करना अथवा उनको किसी दृष्टि से सही मानना अनेकान्त नहीं है। एक कहता है ''तत्त्व नित्य है'', तो दूसरा कहता है ''अनित्य है''। हमने दोनों को बिना विवक्षा के एक कर लिया, अनेकान्त बन गया। अनेकान्त ऐसी बालक्रीड़ा नहीं है। वस्तु स्वभाव से ही अस्ति-नास्ति नित्यानित्यादि अनन्त-धर्मात्मक है। उसे एकधर्मात्मक माननेवाली सभी मान्यतायें मिथ्या हैं। जैसे अनन्त-असत्यों को मिलाने से एक सत्य नहीं बनता, उसीप्रकार अनन्त असत्य-मान्यताओं के मिश्रण से अनेकान्त नहीं बन सकता। वर्तमान में अनेकान्त का सही-स्वरूप तथा उसका सही-उपयोग प्रयोग हमें अपने चारित्र-नायक पूज्य श्री कानजीस्वामी जैसे महापुरुष से मिला है।

चारित्र के क्षेत्र में लोग उनकी आलोचन भी करते हैं। वे चारित्र धारण क्यों नहीं करते ? किन्तु यह प्रश्न करते समय लोग यह भूल जाते हैं कि चारित्र कुछ बाह्य-निवृत्ति और कुछ बाह्य-प्रवृत्तियों का द्राविड़ी-प्राणायाम मात्र नहीं है। वह तो वीतराग निर्विकल्प-दशा है। ऐसी वीतरागता कभी बलात् नहीं आती। उसका विकास क्रमश: होता है। वह सिर पर बोझे की तरह लादी नहीं जाती। वह तो वीतराग- निर्विकल्प शुद्ध जीवतत्त्व के आलंबन तथा उसमें रमणता से उदित होती है। उसके विकास तथा पूर्णता का यही क्रम है। प्रथमानुयोग का सम्पूर्ण-साहित्य इसका साक्षी है।

पूज्यश्री कानजी स्वामी सम्यक्त्व की ऐसी अनुपम-भूमिका में प्रतिष्ठित हैं। उनका बाह्याचार उससे बहुत आगे है। वे शुद्ध-भोजन करते हैं, वे तत्त्वविचार करते हैं। उन्हें स्थानादि तथा पत्र-व्यवहार के विकल्प ही नहीं उठते। उनमें ऐसी अनेक विशेषताएँ हैं। किन्तु मात्र कषाय की मंदता तथा लेश्या की विशुद्धता को चारित्र नहीं कहते। चारित्र-धारण की उनमें उत्कट-अभिलाषा है। वे चारित्रधारी भावलिंगी-संतों के दर्शन के लिए तड़पते हैं, आत्म-साधक वनवासी-सन्तों का वर्णन करते समय वे आत्मविभोर हो जाते हैं। उस वर्णन में चारित्र के प्रति उनकी भक्ति, उल्लास तथा उत्साह दर्शनीय होता है।

शताब्दियों के बाद भी उनकी वाणी में कुन्दकुन्दादि महान्-संतों की पावन-वाणी का रसास्वाद आता है। सर्वार्थसिद्धि-सी स्वर्णपुरी का कण-कण आज चैतन्य-गीतों से मुखरित हो रहा है। संतों की वाणी के रहस्य का उद्घाटन आज सोनगढ़ के एकान्त में कर रहे है। वायु की तंरगों द्वारा आकाशवाणी की भाँति आज उसका प्रसार हो रहा है। आज सोनगढ़ विश्व में अध्यात्म-विद्या का एकमात्र केन्द्र है। उसे यदि हम 'अध्यात्म-विश्वविद्यालय' कहें, तो अनुचित न होगा। जड़ता के दास्य की अनादिकालीन-शृंखलाओं को क्रीड़ामात्र में छिन्न-भिन्न करने का एकमात्र-साधन आज हमें महापुरुष के रूप में अनायास ही मिला है। सातिशय-पुण्यशील, किन्तु पुण्य के अतिशयों से अप्रभावित इन 'सर्वोदयी युग-नेता' से आज सारा ही विश्व उपकृत हो रहा है।

मैं अपनी शत-सहस्र श्रद्धांजलियाँ उनके चरणों में चढ़ाता हूँ।

❀❀❀

पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी की
133वीं जन्म जयन्ती पर समर्पित
2 मई 2022
वैशाख सुद दूज सं. 2079

आचार्य कुन्दकुन्द फाउण्डेशन
कोटा
मो. 9414181512